# निर्झरिणी

श्री भगवद्दत्त 'शिशु'

No.................

नवयुग साहित्य सदन,
इन्दौर

# दो शब्द

आयुष्मान् भगवद्दत्त 'शिशु' का यह प्रथम प्रयास है। मैंने रचयिता के उत्साह को विकसित होने दिया है; अभिनन्दन किया है, और आशीर्वाद भी दिया है।

कई पंक्तियों में मुझे कहीं-कहीं वह रस-निर्झर मिला है, जिसमें जगत् की नश्वरता झलकती है, और झूठी ममता के प्रति हलका-सा निर्मोह भी दिखता है। कविताओं पर युग की परछाईं का पड़ना स्वाभाविक है। आज का कवि धूमिल छाया और वेदना का सुर अलापता हुआ भी जीवन को यदि सच्ची कला मान लेता है तो उसकी रचना, निस्सन्देह, अभिनन्दनीय है। इन रचनाओं में ऐसी कला की उपेक्षा नहीं की गई है।

'निर्झरिणी' का गायक मेरा स्नेह-पात्र है, इसलिए उसकी रचना के विषय में अधिक लिखने का मुझे अधिकार नहीं। इतनी ही कामना करता हूँ कि रचना की ओर यदि उसका झुकाव है तो अपने मनोभावों को वह कोमल-कठोर शब्द-संकेतों के द्वारा जीवन की शुद्ध कसौटी पर कसने का प्रयत्न करे।

हरिजन निवास, दिल्ली<br>शिवरात्रि, सं० २००२

वियोगी हरि

# अनुक्रमणिका

: १ :

पथिक, क्यों हमको छोड़ दिया ?

बैठ मेरी तब शीतल छाँह,
किया करते थे तुम विश्राम।
झाड़ते थे पैरों की धूल,
श्रान्ति पथ की जाते थे भूल।
देख अब जीर्ण-शीर्ण यह ठूँठ, राह से क्यों मुँह मोड़ लिया ?
पथिक, क्यों हमको छोड़ दिया ?

कृषक भी वृषभों को ले साथ,
ग्रीष्म में पाते थे उल्लास।
सघन पत्रों की छाया तले,
गोप भी नित रचते थे रास।
सभीने निर्मम बनकर आज, पुराना नाता तोड़ दिया।
पथिक, क्यों हमको छोड़ दिया ?

देखते जब हम आँखें खोल,
विहग-कुल की वह स्वर्ण उड़ान,

खेलता था किरणों के साथ,
किया करता था प्रातः-गान।
तजा उन डालों को भी हाय, कभी जिनपर था मोद किया।
पथिक, क्यों हमको छोड़ दिया ?

हरित शाखों के नीचे बैठ,
तत्त्व का करते थे मुनि ध्यान।
"रसो वै सः" के पी मधु घूंट,
ब्रह्म का दिया जगत को दान।
विश्व से मिला हृदय का तार, सत्य शिव सुन्दर जोड़ लिया।
पथिक, क्यों हमको छोड़ दिया ?

भुलाकर पथिक, पुरानी प्रीति,
हुआ कितना निष्ठुर संसार !
यही क्या अरे, सनातन रीति,
जलाने को अब यह तैयार ?
विपत में रहा न कोई साथ, नियति ने सबको फोड़ लिया।
पथिक, क्यों हमको छोड़ दिया ?

: २ :

दे सुधा घोल, ले सुधा घोल।

ममता तू मानव, दे न छोड़,
भव के बन्धन दे भले तोड़।

सूने घट का इस जगती में, हो सकता है फिर कौन मोल ?
दे सुधा घोल, ले सुधा घोल।

है कौन यहां कितना त्यागी ?
है कौन यहां कितना रागी ?

है होती जन की जीवन में, ममता ही से तो माप-तोल।
दे सुधा घोल, ले सुधा घोल।

तुम कौन, और मैं कहो कौन ?
तुम साध रहे क्यों सखे, मौन ?

जो तुम हो, मैं भी वही मीत, देते रहस्य यह क्यों न खोल ?
दे सुधा घोल, ले सुधा घोल।

तुम हो स्थिर, मैं हूं चंचल,
रहता मिलने को सदा विकल।

रे, द्वैत-हीन तारों ही से तो, सदा बढ़ा है मेल-जोल।
दे सुधा घोल, ले सुधा घोल।

: ३ :

मैं समझ न पाया अपने को !

मैं कौन, कहाँ से आया,
इसका कुछ भी तो भान नहीं !
आगे अब कितना चलना है—
इसका भी तो है ज्ञान नहीं।

अनजाने पथ पर चलता हूं, बस केवल आगे चलने को।
मैं समझ न पाया अपने को !

इस चला-चली के मेले में,
क्षण-भर का भी विश्राम नहीं।
इन आरामों में भी पाया—
हमने पल-भर आराम नहीं।

है गति में ही इति जीवन की, मैं यहां न आया रुकने को।
मैं समझ न पाया अपने को !

रे, कुम्हार ने इस मिट्टी को
कभी बिगाड़ा, कभी बनाया !

बनने और बिगड़ने का क्रम—
युग-युग से है चलता आया।

पाया रज से जग ने जीवन, डरता हूँ उसमें मिलने को!
मैं समझ न पाया अपने को!

तेरा मेरा है कौन यहां,
दुनिया में 'मैं-तू' रहा भूल।
है तार टूटने पर उससे,
पथ पर के फिर हम सभी धूल।

इन मीठी भूल-भुलैयों में, रोता हूँ झूठे सपने को!
मैं समझ न पाया अपने को!

: ४ :

मैं जग को पहचान न पाया ।

जो मैंने समझा था अपना,
था क्या वह ममता का सपना ?
उन अपनों ने ही अपने को, होते देखा आज पराया !
मैं जग को पहचान न पाया ।

सपनों की कुटिया छाई थी,
मेरी ममता को भाई थी;
उसने भी आँखों से देखा, मुझको होते आज पराया ।
मैं जग को पहचान न पाया ।

झिलमिल का यह निरा झमेला,
मैं हूँ इसमें आज अकेला ।
मेरी छाया ही तो मुझको छलती है, कैसी यह माया !
मैं जग को पहचान न पाया ।

: ५ :

संसृति से सम्बन्ध पुरातन,
माँग रहा फिर भी जग परिचय !
विधि बनकर मैंने ही जग का,
था नूतन निर्माण किया,
रुद्ररूप-ताण्डव कर जग का,
मैंने ही निर्वाण किया।

मैं ही बन नारायण जग का करता संस्थापन, सर्वोदय।
संसृति से सम्बन्ध पुरातन, माँग रहा फिर भी जग परिचय !

जब सुधा-अर्थ था सिन्धु मथा,
पर निकला उससे घोर गरल—
घबराये देख सुरासुर थे,
पीना था जिसका नहीं सरल,

तब मैंने नीलकण्ठ बनकर, था किया दूर श्रमिकों का भय।
जग माँग रहा फिर भी मुझसे, निर्मम बनकर मेरा परिचय !

जब जड़तावश मानव जग के—
मृदु काट न सकता था बन्धन,

छाया-गृह का बन्दी बनकर,
करता था दीन करुण क्रन्दन।
तब मैंने ही बन बुद्ध विश्व के काटे थे बन्धन मायामय।
संसृति से सम्बन्ध पुरातन, माँग रहा फिर भी जग परिचय!

: ६ :

रजकण पर भी छाप लगाई !
मिट्टी की यह मूर्ति बनाकर,
रूप दिया है कितना सुन्दर !
दीख रही है जिसमें साईं, यह तेरी प्यारी परछाईं ।
रजकण पर भी छाप लगाई !

मल-मल कर था जिसको धोया,
सुख से था महलों में सोया ।
कभी न उस मिट्टी पर मैंने, मिट्टी थी लगने दी भाई !
रजकण पर भी छाप लगाई !

: ७ :

पथिक, है क्यों ऐसा मुख म्लान ?
नहीं है क्या बढ़ने की चाह ?
भग्न है क्यों ऐसा उत्साह ?
खोजता किसको मन में भूल ?
भटक-सा गया आज तू राह !
अरे, भरकर उर में उल्लास, पार कर मंजिल तू नादान !
पथिक, है क्यों ऐसा मुख म्लान ?

छोड़ कच्चे धागों का छोर,
अरे, बढ़ता ही चल उस ओर—
जहां खिलता है नव उल्लास,
उषा को मिलता नया विकास,
विषमता पाती है उपहास, द्वैत होता है अन्तर्धान।
पथिक, है क्यों ऐसा मुख म्लान ?

फूल-सा अब भी जा तू फूल,
भूल जा रे, अतीत के शूल।

लगादे भटकी नौका पार,
मिलेगी निश्चय रस की धार।
रहा है बिखर जहाँ नव हास, बना अभिशाप जहां वरदान,
पथिक, है क्यों ऐसा मुख म्लान!

: ८ :

राही, बैठ गया क्यों थककर ?

मंजिल तेरी दूर यहां से,
जीवन की रे, कठिन घड़ी है।
लगी हुई यह विषम झड़ी है,
मुँह बाये यह नियति खड़ी है।
पथिक इसीसे बैठा है क्या, इन विभीषिकाओं से डरकर ?
राही, बैठ गया क्यों थककर ?

तुझे समझकर ही एकाकी,
वे भी तेरा साथ न देंगे।
जिन्हें समझकर अपना जग में,
तू अबतक ठहरा है मग में।
इकला ही तुझको चलना है, इन सबको अधबीचों तजकर।
राही, बैठ गया क्यों थककर ?

बिना रुके ही अरे, बटोही,
इस पथ पर चढ़ना ही होगा।

मोह छोड़ इस धूप-छाहँ का;
आगे अब बढ़ना ही होगा।
तभी लक्ष्य को बेध सकेगा, जब अविराम प्रगति हो पथ पर।
राही, बैठ गया क्यों थककर?

उर में तिमिर छिपाये सन्ध्या,
कुछ क्षण में ही आ जायेगी।
शून्यांचल से आशाओं को
कुछ सन्देश सुना जायेगी।
कर-कर याद पुरानी पंथी, रोयेगा तू सिर धुन-धुनकर।
राही, बैठ गया क्यों थककर?

: ६ :

मोल करेगा क्या तू मेरा ?

मिट्टी का मैं बना खिलौना;
मुझे देख तू खुश मत होना।
कुछ क्षण हाथों का मेहमां हूं, होगा फिर मिट्टी में डेरा।
मोल करेगा क्या तू मेरा ?

मूरत है मुझ-सी ही तेरी;
सूरत भी है मुझ-सी तेरी।
घड़े सभी हैं एक चाक के, सब चित्रों का एक चितेरा।
मोल करेगा क्या तू मेरा ?

रज से ही निर्माण हमारा,
रज से ही निर्माण तुम्हारा !
कौन मोल किसका करता है, अरे, यही तो है भ्रम तेरा !
मोल करेगा क्या तू मेरा ?

: १० :

बटोही, करले कुछ आराम।
अभी जीवन का ऊषा-काल,
अभी से चलने का क्या काम ?
अरे, चित्रित किरणों के संग
घूमते, देख, धरणि औ' धाम।
समझ ले मंजिल कितनी दूर, जहां होनी है तेरी शाम।
इसीसे करले कुछ आराम।

अरे, दुनिया है एक सराय,
मिटाले राही, यहीं थकान।
तुझे चलना है काले कोस,
अभी से कैसा यह संतोष ?
घूमले चाहे जितने लोक, अन्त करना होगा विश्राम।
बटोही, करले कुछ आराम।

: ११ :

पन्थी, अभी दूर चलना है।

आँख लगा तू मत महलों पर,

ध्यान लगा तू चल मंजिल पर।

पथ पर के विश्राम-बाग ये, दुनिया की झूठी छलना है।

पन्थी, अभी दूर चलना है।

जब चलने को उद्यत होता,

खड़ा-खड़ा सारा घर रोता।

देख सीपियों में दो मोती, तुझको पड़ता ललचाना है।

पंथी, अभी दूर चलना है।

सुरसा-ज्यों बाधाएँ आकर,

रोकेंगी तेरा पथ डटकर।

पर माया का जाल काटकर, यह असीम सागर तरना है।

पंथी, अभी दूर चलना है।

जली ज्योतियाँ पथ में कितनी,

देखी सुनी न होंगी इतनी।

पर झंझा का झोंका खाकर, सबको पथ में ही बुझना है।

पंथी, अभी दूर चलना है।

इसीलिए निर्मोहित बनकर,
बढ़ता ही चल, पांथिक, लक्ष्य पर ।
हो कटिबद्ध बढ़ा डग आगे, अमृत-धाम का पथ चलना है ।
पंथी, अभी दूर चलना है ।

: १२ :

बटोही, आज चले किस ओर ?
नहीं क्या इसका तुमको ज्ञान,
कि है पथ यह कितना अनजान ?
चले इसपर कितने ही धीर,
हुए चलते-चलते हैरान ।
न पाया फिर भी इसका छोर ।
चले हो अरे, आज किस ओर ?
चले इसपर कितने ही सन्त,
किसीको मिला न इसका अन्त ।
अलापा नेति-नेति का राग,
न पाया फिर भी इसका छोर ।
चले हो अरे, आज किस ओर ?
अरे, है अगम सत्य की शोध,
बुद्ध औ, राम कृष्ण-से देव,
चले इस पथ पर जीवन हार,
न पाया फिर भी इसका पार ।
बटोही, साहस को झकझोर—
बढ़े जाते फिर भी उस ओर !

## : १३ :

पथिक, यही वह रसिक भ्रमर है।

ऊपर से यह कितना काला,

पर अन्तर से निपट निराला।

खोटा और खरा दुनिया में, अन्तर पर ही तो निर्भर है।

पथिक, यही वह रसिक भ्रमर है।

ममता तो है; पर है कठोर,

मंजुल गुंजन में हो विभोर—

यह जिस कुकाठ पर बैठ जाय, करता कुरेद उसमें घर है।

पथिक, यही वह रसिक भ्रमर है।

उर में लेता है जिसे धार,

उसपर देता सर्वस्व वार।

हाँ, उसी कली की कारा में यह रहता बन्दी बनकर है।

पथिक, यही वह रसिक भ्रमर है।

: १४ :

पथ कोई न रोक सकेगा !

जब छोड़ चलेगा घर को,
जब त्यागेगा निज-पर को।
सहवासी, सजन कुटुम्बी, फिर कोई न टोक सकेगा।
पथ कोई न रोक सकेगा।

'मैं-पन' की भूल भुलाकर,
इस तन में खाक रमाकर,
अणु-अणु के दर्पण में, जब प्रति-रूप अरे, देखेगा,
पथ कोई न रोक सकेगा।

रक्खेगा जहां अरे, पग,
बन जायेगा वह नव मग।
हो मौन पदों के पीछे, सारा यह विश्व चलेगा।
पथ कोई न रोक सकेगा।

: १५ :

शेष है दो दिन जवानी ।
आज की ही कल कहेगी, हाय ! यह दुनिया कहानी ।
शेष है दो दिन जवानी ।

रात चलदी, प्रात आया
स्वर्ण किरणों से अकेले ।
नीड़, किसने कहो कब-कब
ललित मधुमय राग गाया !
प्रात के भी द्वार पर, देखी खड़ी सन्ध्या सयानी ।
शेष है दो दिन जवानी !

हरितवसना पीत-वदना,
कलित नव-कलिका नवेली ।
मधुप से वह आज करती
फूलकर क्रीडा अकेली ।
पंखुड़ी ही राह में अब, गा रही गाथा पुरानी ।
शेष है दो दिन जवानी ।

गलितमद यौवन-सुमणि को,
जरा-जर्जर अस्थि-पंजर
राह में अब ढूँढ़ता है,
कटि झुका, लकुटी लिये कर।
हा! हिरानी-सी हुई है, ज्योति ही अपनी बिरानी!
शेष है दो दिन जवानी।

: १६ :

तुझे फिर किसका क्या डर है ?

धूल और धन में जब समता,
जीवमात्र से है जब ममता।
तब शोक मोह कैसा क्या रे, यह माया की छायाभर है।
तुझे फिर किसका क्या डर है ?

काया यह छाया-सी नश्वर,
सहज तत्व ही सत्, शिव, सुन्दर।
फिर बेध सके जो तुझको, वह किसका ऐसा शर है ?
तुझे फिर किसका क्या डर है ?

एकाकी ही है यह जीवन,
पथ भी तो है कितना निर्जन !
शंका फिर कैसी रे, मन में, जब बना शून्य में घर है ?
तुझे फिर किसका क्या डर है ?

: १७ :

है कैसी रीति निराली !

कोनों में छिपी हुई थी,

युग-युग से प्यारी पीड़ा।

अन्तरतम में करती थी,

जो मचल-मचलकर क्रीड़ा—

उसकी रसभरी कहानी,

किसने पल में कह डाली !

है कैसी रीति निराली !

मधु के कण जिन्हें समझकर,

सीमा में बन्द किया था,

उन बन्दी बूँदों को ही,

सपनों का नाम दिया था।

उन मूक बन्दियों ने ही,

यह कथा आज कह डाली !

है कैसी रीति निराली !

जब था वह सीमित मुझमें,

अब मैं सीमित हूं उसमें।

जब था मैं उसकी काया,
अब हूं मैं उसकी छाया।
अब अणु-अणु में व्याप गई है
उसकी भीगी-सी लाली।
है कैसी रीति निराली!

: १८ :

छा जायेगा घोर अँधेरा।

अम्बरभेदी प्रासादों में,
कुछ ही क्षण विश्राम करेगा।
हाँ, इन आँखों के ही आगे,
अवशेषों से लोक भरेगा।
कुछ ही पल तू कर पायेगा, आरामों में पथिक, बसेरा।
छा जायेगा घोर अँधेरा।

तेरी यह व्याकुल तृष्णाएँ,
कभी अरे, क्या बुझ पायेंगी ?
बुद्‌बुद को आलिंगन देकर,
स्मृति को भी ले जायेंगी।
अरे, भूल फिर कभी न कहना, 'है यह मेरा, है यह मेरा।'
छा जायेगा घोर अँधेरा।

: १६ :

नहीं रुकना है मेरा लक्ष्य,
तूण से दिया छोड़ जब बाण।
'विसर्जन' ही है यहाँ विराम,
जहाँ पाता है मानव त्राण।

सुनो सरिता का कल-कल नाद
दिलाता है हमको यह याद—
'समर्पण' ही है यहाँ विराम,
सभी धुल जाते जहाँ विषाद।

सुनाता निर्झर प्रतिपल गान,
नहीं है जीवन सखे, अचल।
बिखरना ही है यहाँ विराम,
रहा है फिर भी इसपर मचल।

सुनहरी आई ऊषा-बाल,
कहा उसने भी लाली ढाल—
'विलय' में ही यहाँ विराम,
खड़ी है साँझ लिये उर माल।

रुपहरी बोली फिर यूं रात,
यहाँ आओ करलें दो बात—
'विकासन' में ही यहाँ विराम,
भेंटने आया मुझे प्रभात ।

: २० :

फूल भी है, शूल भी है!

कौन 'अपना' कह बुलाता,
कौन 'पर' कहकर भगाता?
वह नहीं है मीत मेरा,
इसी पर है स्वत्व तेरा।
दुःख औ' सुख के जगत में फूल भी है, शूल भी है!
फूल भी है, शूल भी है!

मान कर अपना तुम्हीं ने
पास कल अपने बुलाया।
पर बता कर आज क्यों 'पर',
दूर मुझको यों भगाया?
'तुम वही हो' 'मैं वही हूँ,' भाव यह अबतक न आया।
हाय, इस ममता-तिमिर में, याद भी है, भूल भी है।
फूल भी है, शूल भी है।

राह में अपनी अकेला,
लड़-खड़ाता जा रहा हूँ।

नद, नदी, नाले सभी को
पार करता जा रहा हूँ।
पर न जाने लक्ष्य से क्यों, दूर हटता जा रहा हूँ।
पथिक, पारावार में यह धार भी है, कूल भी है।
फूल भी है, शूल भी है।

: २१ :

झड़ गईं फूल की पंखड़ियाँ।

जर्जर है तन, नीरस है उर,

है नहीं रूप भी वह मनहर।

अब पड़ा धूल में गिनता हूं, जीवन की वे मधु-मय घड़ियाँ।

झड़ गईं फूल की पंखड़ियाँ।

अब आते झंझा के झोंके,

रुकते हैं यह किसके रोके ?

अब नहीं फटकते पास कभी, कटती जिनकी मुझसे घड़ियाँ।

झड़ गईं फूल की पंखड़ियाँ।

नहीं वह रहा मनोहर गन्ध,

बने क्यों मधुप आज रस-अन्ध ?

सभी हैं बनी-बनी के मीत, अरे, है मतलब की दुनियाँ।

झड़ गईं फूल की पंखड़ियाँ।

जो शूल किया करते रक्षण,

कर दिया उन्हींने विक्षततन ।

लगती है आग आग से ही, सकतीं न बुझा रस की झड़ियाँ।

झड़ गईं फूल की पंखड़ियाँ।

अपनेपन का अपना बंधन,
सुन्दर लगता है क्षण प्रति क्षण।
खिंच रहा इसीकी ओर जगत, हैं मोहक माया की कड़ियाँ।
झड़ गईं फूल की पंखड़ियाँ।

मानव, माया का काट जाल,
पीछे छाया-सा लगा काल।
तू सतो-पन्थ पर बढ़ा चरण, दे तोड़ मोह की मृदु लड़ियाँ।
झड़ गईं फूल की पंखड़ियाँ।

: २२ :

सदा चाहता आगे बढ़ना,
पीछे कभी न मैं रहता।
दुख-दर्दों में भी दुनियां के,
हँसता ही मैं नित रहता।

काँटों में सीखा है मैंने,
खिल-खिलकर यों मुसकाना।
मुझे प्रकृति ने ही सिखलाया,
मुसका करके मुरझाना!

जगा-जगाकर उषा-सहेली
नित जोड़ा करती है प्रीत।
द्वार-द्वार पर आकर भौंरे
चारण बन गाते हैं गीत।

रस-प्यासी उन मधु-मखियों की
लग जाती है भीड़ अपार।
उन्हें दान करने को मधु का,
खोला करता हूँ उर-द्वार।

जब छवि से तितली का कृशतन
उड़ते उड़ते पाता त्रास।
शोभा-भार-जन्य श्रम हरने,
आती थी तब मेरे पास।

नित नूतन मेरा करते हैं,
हरित पत्र द्युतिमय शृङ्गार।
पवन सदा बरसाया करती
मुझपर अपना प्यार दुलार।

देख चुका हूँ शीत-काल में,
भीषण हिम-तुषार का रोष।
और प्यार भी देखा उसका,
धोया जब मुख, बनकर ओस।

सहन किये हैं खड़े-खड़े ही,
पतझड़ के अनगिनत प्रहार।
कुछ क्षण में ही आ जाती थी
मुझे हँसाने यहां बहार।

देखी हैं सावन की झड़ियाँ,
और जेठ का देखा कोप।
एक बढ़ाया करता मुझको,
एक चाहता मेरा लोप!

रही कभी अनुकूल प्रकृति यह,
रही कभी चाहे प्रति-कूल—
अपना रूप भूल जाने की,
किन्तु कभी है की न भूल।

: २३ :

साथी, कैसे भूल गये ?

बड़ी पुरानी प्रीति हमारी,
हमें कहानी याद तुम्हारी।
खेल-खेल में ही तो उस दिन, ऐसे क्या तुम रूठ गये!
साथी, कैसे भूल गये?

कहा हमींने था कर इंगित,
हम ही कोविद, हम ही पंडित।
रस बिखेरने को रचते हम, क्या-क्या खेल नये!
साथी, कैसे भूल गये!

वाल्मीकि कवि ख्यात हमी थे,
आर्ष विराट विकास हमी थे।
हमने ही नाना विध चिन्तन, दर्शन प्रकट किये।
साथी, कैसे भूल गये?

हम हैं नूतन, हमीं पुरातन
हम युग-रेखा, हमीं सनातन,
परिवर्तन आवर्तन हम ने, नव-नव नित्य किये।
साथी, कैसे भूल गये?

: २४ :

बगिया में कैसा खिला फूल !

इठला इससे बहती समीर,

है चंचरीक भी मधु-अधीर।

तितली की भी मिट गई पीर, पाया जब से नव कुसुम-कूल।

बगिया में कैसा खिला फूल !

सौरभ का जग को दिया दान,

मधु का मधुपों ने किया पान।

है लुटा रहा सौरभ जग को, निज और पराया गया भूल।

बगिया में कैसा खिला फूल !

हैं भिन्न हृदय मिल गये आज,

हर्षित है सारा रस-समाज।

उत्सर्ग सहज, रसवन्तों के उर में उत्सव-सा रहा झूल।

बगिया में कैसा खिला फूल !

है मृदुल मनोहर ललित गात,

धोती है आनन ओस प्रात।

आमोद-पुंज यह इसो हेतु, है प्रकृति-दुलारा प्रेम-मूल।

बगिया में कैसा खिला फूल !

: २५ :

सुन, मधु-मक्खी क्या कहती है—
"कुसुम-प्यालियों से ले-लेकर,
मधु सचित करती हूँ दिनभर ।
र मेरी निधि पर मानव की लोलुप आँख लगी रहती है !"
सुन, मधु-मक्खी क्या कहती है !
"मेरे रुचिर रूप पर अपना
मत आगे तू हाथ बढ़ाना।
जो मधु-प्याली रस भरती है, वही हलाहल भी रखती है !"
सुन, मधु-मक्खी क्या कहती है !
"मेरी संचित सरस सुधा पर,
अपना पथिक, न मन विचलित कर ।
पी अपने ही जीवन का मधु, प्यास उसी रस से बुझती है ।"
सुन, मधु-मक्खी क्या कहती है !

: २६ :

मत छू, मत छू नाजुक तितली।
थी अभी यहाँ, उड़ गई कहाँ,
बैठी है देखो अभी वहाँ—
कितनी चंचलता जीवन में, हो घूम रही मानो चकली।
मत छू, मत छू नाजुक तितली।
रंग बिरंगे चमकीले पर,
तन भी इसका कितना सुन्दर!
है वैसी ही सखी सहेली इसकी मृदुल कली।
मत छू, मत छू नाजुक तितलो।
दुनिया मोहित इसपर होती
रूप रंग पर इसके रोती।
पर यह तो कर आँख-मिचौनी उसे छकाकर भाग चली।
मत छू, मत छू नाजुक तितली।
देख इसे तू मत ललचाना।
अपने पथ पर बढ़ते जाना।
धूप-छाहँ की-सी यह माया, जाती है यह अभी ढली।
मत छू, मत छू नाजुक तितली।